जैन योग-परंपरा में क्लेश-मीमांसा

कु० अरुणा आनन्द

क्लिश्नन्तीति क्लेशा :—इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिनसे प्राणियों को दुःख प्राप्त होता है, वे 'क्लेश' कहे जाते हैं। जैसे ईश्वर के विभिन्न नाम विभिन्न दर्शनों में वर्णित हैं, वैसे ही संसार के कारणभूत पदार्थ भी विभिन्न नामों से कथित हैं जो वेदान्त में अविद्या, सांख्य-योग में क्लेश, बौद्धों में वासना, शैवों में पाश, तथा जैनों में ज्ञानावरणीयादि कर्मों के नाम से जाने जाते हैं। इनमें संज्ञा के भेद को लेकर ही भेद है।

महर्षि पतञ्जलि के मत में दुःख का कारण अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप पांच क्लेश हैं।

अविद्या

आ० यशोविजय जी ने मिथ्यात्व को ही अविद्या कहा है।[1] स्थानांग सूत्र में मिथ्यात्व के दस प्रकार बताए गए हैं—अधर्म में धर्म मानना, धर्म में अधर्म मानना, अमार्ग में मार्ग मानना, मार्ग में अमार्ग मानना, असाधु को साधु समझना, साधु को असाधु समझना, अजीव को जीव समझना, जीव को अजीव समझना, अयुक्त को युक्त समझना, युक्त को अयुक्त समझना।

अस्मिता

दृक् शक्ति एवं दर्शन-शक्ति में जो अभिन्नता दृष्टिगत होती है उसे 'अस्मिता' कहते हैं।[2] अर्थात् दृश्य में द्रष्टा का आरोप, और द्रष्टा में दृश्य का आरोप 'अस्मिता' है। आ० यशोविजयजी ने दोनों का अन्तर्भाव मिथ्यात्व में ही कर दिया है।[3] आ० यशोविजय जी का यह भी मत है कि यदि 'अस्मिता' को अहंकार और ममकार का बीज मान लें तो अस्मिता का राग-द्वेष में अन्तर्भाव हो जायेगा।[4]

राग-द्वेष

सुख-भोग के अनन्तर अन्तःकरण में रहने वाली तद्विषयक तृष्णा ही राग है।[5] तथा दुःख के प्रति दुःखनाशविषयक प्रतिकूल भावना द्वेष है।[6] आ० यशोविजयजी ने राग-द्वेष दोनों को कषाय के ही भेद माना है।[7] जैनमतानुसार जिनके द्वारा संसार की प्राप्ति होती है—वे कषाय हैं। कषाय के दो भेद होते हैं—राग और द्वेष। क्रोध और मान—ये दोनों द्वेष हैं तथा मान और लोभ ये दोनों राग हैं। राग और द्वेष के कारण ही मनुष्य अष्टविध कर्मों के बंधन में बंधता है।

अभिनिवेश

प्रत्येक प्राणी में स्वाभाविक रूप से विद्यमान मृत्यु का भय विद्वानों के लिए भी वैसा ही है, जैसाकि मूर्खों के लिए। यही अभिनिवेश है।[8] यशोविजय ने इसे भय संज्ञा का नाम दिया है। जैनदर्शन के अनुसार क्षुद्र प्राणी से लेकर मनुष्य व देव तक सभी संसारी जीवों में

१. अत्राविद्या स्थानांगोक्तं दशविधं मिथ्यात्वमेव। (य० वृ० सू० २/६)
२. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता (पा० यो० सू० २/६)
३. अस्मिताया अदृश्ये(श्च दृश्ये)दृगारोपरूपत्वे चान्तर्भाव; (य० वृ०, सू० २/६)
४. अहंकारममकारबीजरूपत्वे तु रागद्वेषान्तर्भाव इति (य० वृ० सू० २/६)
५. सुखानुशयी रागः। (पा० यो० सू० २/७)
६. दुःखानुशयी द्वेषः। (पा० यो० सू २/८)
७. रागद्वेषौ कषायभेदा एव (य० वृ० सू० २/६)
८. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः (पा० यो० सू० २/६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहार, भय, मैथुन व परिग्रह— इन चारों के प्रति जो तृष्णा पायी जाती है, उसे संज्ञा कहते हैं। संज्ञा चार प्रकार की होती है—आहार, संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा।[1] विशिष्ट अन्नादि में संज्ञा अर्थात् वांछाका का होना आहार संज्ञा है। अत्यन्त भय से उत्पन्न भागकर छिपने की इच्छा भय संज्ञा है। मैथुन रूप क्रिया में होने वाली वांछा मैथुन संज्ञा है। धन-धान्यादि को अर्जन करने की जो वांछा होती है उसे परिग्रह संज्ञा कहते हैं। यशोविजय का कहना है कि भय संज्ञा के समान आहार, मैथुन और परिग्रह संज्ञा भी अभिनिवेश है क्योंकि भय के समान आहारादि में भी विद्वानों का अभिनिवेश देखा जाता है। विद्वानों में अभिनिवेश का अभाव केवल उस समय होता है—जब अप्रमत्त दशा में उन्होंने दस संज्ञाओं को रोक दिया हो। संज्ञा मोह रूप अभिनिवेश है। संज्ञा मोह से अभिव्यक्त होने वाला चैतन्य का स्फुरण मात्र ही है।[2]

क्लेशों की अवस्थाएं

अविद्यादिपंच क्लेशों की प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार—ये चार अवस्थाएं हैं। ये चारों अवस्थाएं जैन दृष्टि में वर्णित मोहनीय कर्म की सत्ता, उपशम, क्षयोपशम, विरोधी प्रकृति के उदयादि कृत व्यवधान और उदयावस्था के भाव रूप ही हैं।

प्रसुप्तावस्था: चित्त में शक्तिमात्र से स्थित क्लेशों का कार्य करने में असमर्थ होकर बीज रूप में अवस्थित रहना प्रसुप्तावस्था है।[3] जैनप्रक्रिया के अनुसार अबाधाकाल के पूर्ण न होने के कारण कर्मदलिक का निषेक हो जाने तक की कर्मावस्था को ही प्रसुप्तावस्था कहा गया है।[4]

जैनदर्शनानुसार कर्म बंधते ही अपना फल देना प्रारम्भ नहीं कर देते। कुछ समय तक वे वैसे ही पड़े रहते हैं। कर्म के इस फलहीन अथवा बंध और उदय के अन्तरकाल को आबाधाकाल कहते हैं। आबाधाकाल के व्यतीत हो जाने पर ही बद्ध कर्म अपना फल देना प्रारम्भ करते हैं। आबाधाकाल की स्थिति तक के दो विभाग होते हैं—(१) अवस्थानकाल (२)अनुभव या निषेककाल। कर्मपुद्गलों की एक काल में उदय होने वाले रचना विशेष को निषेक कहा जाता है।

तनुअवस्था: प्रतिपक्ष भावना द्वारा अर्थात् तप एवं स्वाध्यायादि क्रियाओं के अनुष्ठान द्वारा अपहत होकर क्षीण होने वाले क्लेशों की तनु अवस्था कही जाती है।[5] आ० यशोविजयजी के मत में कर्मों के उपशम व क्षयोपशमभाव कर्मों की तनु अवस्था है।[6] आत्मा में की निजशक्ति का कारणवश प्रकट न होना उपशम है,कर्मों का आत्मा से सर्वथा दूर होना क्षय है, क्षय और उपशम दोनों का होना क्षयोपशम है।

विच्छिन्नावस्था: एक क्लेश के प्रबल होने पर दूसरे क्लेश की अभिभूतावस्था ही विच्छिन्नावस्था है। यशोविजय के मत में विरोधीप्रकृति के उदयादि कारणों से किसी कर्म प्रकृति का रुक जाना उसकी विच्छिन्नावस्था है।[7]

उदारावस्था: जिस समय क्लेश अपना व्यापार करने में व्यापृत रहते हैं वह उनकी उदारावस्था कही जाती है।[8] आ० यशोविजय जी ने उदयावलिका के प्राप्त न होने को कर्म की उदारावस्था कहा है।[9]

जैनदर्शनानुसार कर्म की स्वफल प्रदान करने की अवस्था का नाम उदय है। कर्म अपने स्थितिबन्ध के अनुसार उदय में आते हैं एवं अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं। जिस कर्म की जितनी स्थिति का बंध होता है वह कर्म उतनी ही अवधि तक क्रमशः उदय में आता है। असंख्यात समय समूह की एक आवलि होती है। इस प्रकार उदयावलिका का अर्थ हुआ—असंख्यात समय तक कर्म का उदय में आना। यह उदयावालिका अवस्था ही उदारावस्था के नाम से अभिहित है।[10]

उपर्युक्त चार अवस्थाओं के अतिरिक्त एक पांचवीं अवस्था भी होती है जिसे क्षीण अवस्था या दग्धबीजावस्था कहा जाता है।

---

१. सण्णा चउव्विहा आहार-भय-मेहुणपरिग्गहसण्णा चेदि। खीण सण्णा वि अत्थि। (धवला २/१, १/४१३, २)
२. विदुषोऽपि भय इवाहारादावप्यभिनिवेशदर्शनात्। केवलं विदुषा(षोऽ)प्रमत्तदशायां दशसंज्ञाविष्कम्भणे न कश्चिदयमभिनिवेशः। संज्ञा च मोहाभिनिवेशः, संज्ञा च मोहाभिव्यक्तं चैतन्यमिति (य० वृ० सू० २/६)
३. चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः (व्या० भा० सू० २/४)
४. तेषां प्रसुप्तत्वं तज्जनककर्मणो अबाधाकालापरिक्षयेण कर्मनिषेकाभावः (य० वृ० सू० २/४)
५. प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति (व्या० भा० सू० २/४)
६. तनुत्वमुपशमः क्षयोपशमो वा (य० वृ०, सू० २/४)
७. तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः। (व्या० भा० सू० २/४)
८. विच्छिन्नत्वं प्रतिपक्षप्रकृत्युदयादिनाऽन्तरितत्वम्। (य० वृ० सू० २/४)
९. विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः। (व्या० भा० सू० २/४)
१०. उदारत्वं चोदयावलिकाप्राप्तत्वम्। (य० वृ० सू० २/४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्लेशों से निवृत्ति

कोई भी व्यक्ति दुःखी रहना नहीं चाहता। प्रत्येक व्यक्ति सुख की कामना करता है। सुख प्राप्त करने के लिए दुःख की निवृत्ति अत्यन्तावश्यक है। भौतिक सुख साधनों से प्राप्त सुख क्षणिक होता है अतः उसे सुख नहीं कहा जा सकता। क्लेशों की निवृत्ति तो शास्त्रोक्त साधनों द्वारा ही हो सकती है। इसके लिए प्रथम उदार अवस्था प्राप्त क्लेशों को क्षीण करने के लिए तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आदि क्रियायोग ही एकमात्र साधन है। इसी सन्दर्भ में यशोविजय मोहप्रधान घाति कर्मों का नाश क्षीणमोह सम्बन्धी यथाख्यात चरित्र से बताते हैं।[1]

जैनागमों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और मोहनीय इन चारों को घाती कर्म कहा गया है, क्योंकि इनसे आत्मा के चार मूल गुणों (ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य) का घात होता है। इन चारों घाती कर्मों में मोहनीय कर्म प्रधान है क्योंकि जब तक मोहनीय कर्म बलवान और तीव्र रहता है, तब तक अन्य सभी कर्मों का बन्धन बलवान और तीव्र रहता है तथा मोहनीय कर्म के नाश के साथ ही अन्य कर्मों का भी नाश हो जाता है। अतः आत्मा के विकास की भूमिका में प्रमुख बाधक मोहनीय कर्म है।

आत्मिक गुणों के विकास की क्रमिक अवस्था को जैनदर्शन में १४ भागों में विभक्त किया गया है, जो १४ गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं—मिथ्यादृष्टि, सास्वादन, सम्यक् मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यक् दृष्टि, देशविरत-विरताविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोग केवली और अयोग केवली। ये १४ गुणस्थान जैनचारित्र की १४ सीढ़ियां हैं। इनमें १२वां गुणस्थान क्षीणमोह है। इस गुणस्थान में सम्पूर्ण मोह का क्षय हो जाता है, जिससे साधक का कभी पतन नहीं होता। इसका सम्बन्ध यथाख्यात चारित्र से है जो चारित्र का पांचवां भेद है। समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा का स्वभाव है, उस अवस्था रूप, जो चारित्र होता है वह यथाख्यात चारित्र कहा जाता है, इसका ही दूसरा नाम यथाख्यात है। यथाख्यात से सम्पूर्ण मोह का क्षय हो जाता है।

आ० यशोविजयजी ने अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश रूप पंचक्लेशों को मोहनीय कर्म का औदयिक भाव माना है।[2] आत्मा में मूढ़ता उत्पन्न करने वाले कर्म मोहनीय कर्म कहलाते हैं। मोहनीय कर्म के प्रभाव से आत्मा के वीतराग भाव—शुद्ध स्वरूप—विकृत हो जाते हैं, जिससे आत्मा रागद्वेष आदि विकारों से ग्रस्त होता है। इस मोहनीय कर्म के उदय से जीव को तत्त्व-अतत्त्व का भेद ज्ञान नहीं हो पाता, वह संसार के विकारों में उलझ जाता है। मोहनीय कर्म का पूर्णतः क्षय हो जाने पर, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय तीनों कर्मों का क्षय एकसाथ हो जाता है। अतः मोहनीय कर्म का क्षय करना चाहिए। मोहनीय कर्म के क्षय से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है। जबकि योग की परिभाषा में पंच क्लेशों के नाश से ही कैवल्य प्राप्त होता है।[3]

> सही दृष्टि से देखा जाय तो जैन अनीश्वरवाद वस्तुतः दार्शनिक अनीश्वरवाद है, क्योंकि उसमें सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की सत्ता का गहन विश्लेषण किया गया है और उन दार्शनिकों के तर्कों का व्यवस्थित रूप से खण्डन किया गया है जिन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के प्रयत्न किये। जैन धर्म में ईश्वर शब्द का प्रयोग जीव के उच्च स्तरीय अस्तित्व के अर्थ में किया गया है। मान्यता यह है कि ईश्वरीय अस्तित्व मानवीय अस्तित्व से थोड़ा ही ऊंचा है। क्योंकि यह भी जीवन-मृत्यु के चक्र से मुक्त नहीं है। सर्वार्थसिद्धि नामक सर्वोच्च स्वर्ग में सर्वाधिक अस्तित्व का काल ३२ और ३३ सागरोपमों के बीच का है। ईश्वरीय जीवों ने अपने जिन अच्छे कर्मों से सामान्य मानवों से अधिक ऊंचा स्तर प्राप्त किया था, उनके समाप्त होते ही उन्हें पृथ्वी पर लौट आना पड़ता है। परन्तु यदि इस काल में वे अतिरिक्त ज्ञान का संग्रह करते हैं, तो उन्हें जन्म के इस कष्टमय चक्र से मुक्ति मिल सकती है।
>
> —प्रो० एस० गोपालन : जैन दर्शन की रूपरेखा के प्रथम भाग भूमिका में वर्णित
> 'क्या जैन धर्म नास्तिक है ?' पृ० ३५ से साभार

१. क्षीणमोहसम्बन्धियथाख्यातचारित्रहेया इत्यर्थः (य० वृ० सू० २/१०)
२. सर्वेऽपि क्लेशा मोहप्रकृत्युदयजभाव एव (य० वृ० सू० २/६)।
३. अत एव क्लेशक्षये कैवल्यसिद्धि : मोहक्षयस्य तद्धेतुत्वात् इति पारमर्षरहस्यम् (य० वृ० सू० २/६)

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org